धर्म का मर्म : जैन दृष्टि

धर्म शब्द जिसे अंग्रेजी में Religion (रिलीजन) कहा जाता है, उसकी व्युत्पत्ति हमें यह बताती है कि धर्म एक योजक तत्त्व है, वह जोड़ता है। रिलीजन शब्द री+लीजेर से बना है। जिसका अर्थ होता है— पुन: जोड़ने वाला। जबकि सम्प्रदाय या School शब्द विभाजन का सूचक है। इस प्रकार जहाँ धर्म का कार्य जोड़ना है, वहाँ सम्प्रदाय का कार्य विभाजित करना है। यदि हम इस आधार पर ही कोई निष्कर्ष निकालें तो हमें कहना होगा कि साम्प्रदायिकता में धर्म नहीं (रहा हुआ) है। धर्म में रहकर तो सम्प्रदाय में रहा जा सकता है, किन्तु सम्प्रदाय में रहकर कोई धर्म में नहीं रह सकता है। यदि इसे और अधिक स्पष्ट करें तो इसका तात्पर्य होगा कि यदि व्यक्ति धार्मिक है और वह किसी सम्प्रदाय से जुड़ा है तो वह बुरा नहीं, किन्तु यदि व्यक्ति सम्प्रदाय में ही जीता है और धर्म में नहीं, तो वह निश्चय ही समाज के लिए एक चिन्ता का विषय है। आज स्थिति यह है कि हम सब सम्प्रदायों में जीते हैं, धर्म में नहीं। इसीलिए आज साम्प्रदायिकता मानव मात्र के लिए खतरा बन रही है।

धर्म स्वभाव है, वह आन्तरिक है। सम्प्रदाय का सम्बन्ध आचार की बाह्य रुढ़ियों तक सीमित है इसलिए वह बाहरी है। सम्प्रदाय यदि धर्म से रहित है तो वह ठीक वैसा ही है जैसा आत्मा से रहित शरीर। सम्प्रदाय धर्म का शरीर है और शरीर का होना बुरा भी नहीं, किन्तु जिस प्रकार शरीर में से आत्मा के निकल जाने के बाद वह शव हो जाता है और परिवेश में सड़ाँध व दुर्गन्ध फैलाता है उसी प्रकार धर्म से रहित सम्प्रदाय भी समाज में घृणा और अराजकता उत्पन्न करते हैं, सामाजिक जीवन को गलित व सड़ाँधयुक्त बनाते हैं। शायद यहाँ पूछा जा सकता है कि धर्म और सम्प्रदाय में अन्तर का आधार क्या है? वस्तुत: धर्म आस्था/निष्ठा के साथ मानवीय सद्गुणों को जीवन में जीने के प्रयास से भी जुड़ा है, जबकि सम्प्रदाय केवल कुछ रुढ़ क्रियाओं को ही पकड़कर चलता है। नैतिक सद्गुण त्रैकालिक सत्य हैं, वे सदैव शुभ हैं। जबकि साम्प्रदायिक रुढ़ियों का मूल्य युग विशेष और समाज विशेष में ही होता है अत: वे सापेक्ष हैं। जब इन सापेक्षिक सत्यों को ही एक सार्वभौम सत्य मान लिया जाता है तो इसी से सम्प्रदायवाद का जन्म होता है। यह सम्प्रदायवाद वैमनस्य और घृणा के बीज बोता है। अत: कहा जा सकता है कि जहाँ धर्म आपस में प्रेम करना सिखाता है वहीं सम्प्रदाय आपस में घृणा के बीज बोता है। यदि हम धर्मों के मूल सारतत्त्व को देखें तो उनमें कोई बहुत बड़ा अन्तर नजर नहीं आता, क्योंकि सभी धर्मों की मूलभूत शिक्षाएँ समान ही हैं। न केवल मूलभूत शिक्षायें ही समान हैं अपितु सभी का व्यावहारिक लक्षण भी समान है। वे मनुष्य को एक ऐसी जीवन शैली प्रदान करते हैं जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों ही शान्ति व सुख का अनुभव कर सकें।

किसी कवि ने कहा है—

न हिन्दू बुरा है न मुसलमां बुरा है।
बुरा वह है जिसका दिल बुरा है ।।

सम्प्रदाय वह रंगीन चश्मा है जो सबको अपने ही रङ्ग में देखना चाहता है और जो भी उसे अपने से भिन्न रङ्ग में दिखायी देता है उसे वह गलत मान लेता है। जबकि धर्म खुली आँखों से उस सारभूत तत्त्व को देखता है, जो सभी के मूल में समान रूप से समाया हुआ है। इसीलिए धार्मिक होकर तो सम्प्रदाय में हुआ जा सकता है, किन्तु सम्प्रदाय में होकर कोई व्यक्ति धर्म में नहीं हो सकता। सम्प्रदाय धर्म साधना की एक विशिष्ट प्रक्रिया को अपनाने वाले लोगों का एक समूह है, किन्तु जब यही लोग धर्म के मूल उत्स को छोड़कर मात्र बाह्य क्रियाकाण्डों को ही सब कुछ समझ लेते हैं तो वे धार्मिक न रहकर साम्प्रदायिक बन जाते हैं और यही साम्प्रदायिकता बुरी है। पूर्व में जो यह कहा गया है कि सम्प्रदायों में धर्म नहीं, उसका तात्पर्य यही है कि साम्प्रदायिक आग्रहों के साथ कोई व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता। धर्म को यदि हम केन्द्र-बिन्दु मानें तो सम्प्रदाय व्यक्ति रूपी परिधि-बिन्दु को केन्द्र से जोड़ने वाली त्रिज्या रेखा के समान है। एक केन्द्र-बिन्दु से परिधि-बिन्दुओं को जोड़ने वाली अनेक रेखायें खींची जा सकती हैं। यदि वे सभी रेखायें परिधि-बिन्दु को केन्द्र से जोड़ती हैं तब तो वे एक-दूसरे को नहीं काटती अपितु एक-दूसरे से मिलती हैं किन्तु कोई भी रेखा जब केन्द्र का परित्याग कर चलती है तो वह दूसरे को काटने लगती है, यही स्थिति सम्प्रदाय की है। सम्प्रदाय जब तक धर्म की ओर उन्मुख है तब तक वे एक-दूसरे के विरोध में खड़े नहीं होते, किन्तु जब सम्प्रदाय धर्म से विमुख हो जाते हैं तो वे एक दूसरे को काटने लगते हैं। यदि विभिन्न सम्प्रदाय परस्पर सौजन्य एवं सहिष्णुता के साथ जीवित हैं तो वे वस्तुत: धर्म ही हैं, क्योंकि उनके मूल में धार्मिकता का उत्स समाया हुआ है, किन्तु जब वे सम्प्रदाय एक-दूसरे के विरोध में खड़े होते हैं तो वे 'सम्प्रदाय' होते हैं, 'धर्म' नहीं; और ऐसे धर्मरहित सम्प्रदाय ही सामाजिक जीवन में असद्भाव और वैमनस्य को जन्म देते हैं।

धर्म के दो पक्ष होते हैं— एक उसका शाश्वत और सार्वभौम पक्ष होता है तथा दूसरा दैशिक और कालिक पक्ष। धर्म का शाश्वत और सार्वभौम पक्ष उसका सारतत्त्व कहा जा सकता है, जबकि दैशिक और कालिक पक्ष उसका बाह्यरूप कहा जा सकता है, जो कि समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है। धार्मिक असहिष्णुता का जन्म तब होता है जब हम धर्म के इस रुढ़िगत बाह्य रूप को ही उसका सर्वस्व मान लेते हैं और धर्म के मूल उत्स को भुला देते हैं। मनुष्य ने धर्म के सारतत्त्व के आचरण पर बल न देकर रुढ़ियों और कर्मकाण्डों को ही धर्म का सर्वस्व मान लिया। परिणामत: धर्मों की मूलभूत एकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्मृत हो गयी और उनके भेद ही प्रमुख बन गये। इसकी फलश्रुति धार्मिक असहिष्णुता और धार्मिक संघर्षों के रूप में प्रकट हुई। यदि हम धर्म के मूल उत्स और शिक्षाओं को देखें तो मूसा की दस आज्ञायें, ईसा के पर्वत पर के उपदेश, बुद्ध के पञ्चशील, महावरी के पञ्चमहाव्रत, और पतञ्जलि के पञ्चयम एक-दूसरे से अधिक भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः ये धर्म की मूलभूत शिक्षायें हैं और इन्हें जीवन में जीकर व्यक्ति न केवल एक अच्छा ईसाई, जैन, बौद्ध या हिन्दू बनता है अपितु वह सच्चे अर्थ में धार्मिक भी बनता है।

दुर्भाग्य से आज धार्मिक साम्प्रदायिकता ने पुनः मानव समाज को अपनी गिरफ्त में ले लिया है और धर्म के कुछ तथाकथित ठेकेदार अपनी क्षुद्र ऐषणाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए धर्म के नाम पर मानव समाज में न केवल बिखराव पैदा कर रहे हैं, अपितु वे एक वर्ग को दूसरे वर्ग के विरुद्ध उभाड़ रहे हैं।

मनुष्य की दुविधा—अध्यात्मवाद / भौतिकवाद

आज मनुष्य अंशात, विक्षुब्ध एवं तनावपूर्ण स्थिति में है। बौद्धिक विकास से प्राप्त विशाल ज्ञान-राशि और वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त भौतिक सुख-सुविधा एवं आर्थिक समृद्धि मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक एवं सामाजिक विपन्नता को दूर नहीं कर पायी है। ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाले सहस्राधिक विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के होते हुए भी आज का शिक्षित मानव अपनी स्वार्थपरता और भोग-लोलुपता पर विवेक एवं संयम का अंकुश नहीं लगा पाया है। भौतिक सुख-सुविधाओं का यह अम्बार आज भी उसके मन की माँग को सन्तुष्ट नहीं कर सका है। आवागमन के सुलभ साधनों ने विश्व की दूरी को कम कर दिया है, किन्तु मनुष्य-मनुष्य के बीच हृदय की दूरी आज ज्यादा हो गयी है। यह कहीं धर्म के नाम पर तो कहीं जाति एवं वर्ण के नाम एक-दूसरे से कटते चले जा रहे हैं। सुरक्षा के साधनों की यह बहुलता आज भी उसके मन में अभय का विकास नहीं कर पायी है, आज भी वह उतना ही आशंकित, आतंकित और आक्रामक है, जितना आदिम युग में रहा होगा। मात्र इतना ही नहीं, आज विध्वंसकारी शस्त्रों के निर्माण के साथ उसकी यह आक्रामक वृत्ति अधिक विनाशकारी बन गयी है और वह शस्त्र-निर्माण की इस दौड़ में सम्पूर्ण मानव जाति की अन्त्येष्टि की सामग्री तैयार कर रहा है। आर्थिक सम्पन्नता की इस अवस्था में भी मनुष्य उतना ही अधिक अर्थलोलुप है, जितना कि वह पहले कभी रहा होगा। आज मनुष्य की इस अर्थलोलुपता ने मानव जाति को शोषक और शोषित ऐसे दो वर्गों में बाँट दिया है, जो एक दूसरे को पूरी तरह निगल जाने की तैयारी कर रहे हैं। एक भोगाकांक्षा और तृष्णा की दौड़ में पागल है तो दूसरा पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए व्यग्र और विक्षुब्ध। आज विश्व में वैज्ञानिक तकनीक और आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से सबसे अधिक विकसित राष्ट्र यू०एस०ए०, मानसिक तनावों एवं आपराधिक प्रवृत्तियों के कारण सबसे अधिक परेशान है, इससे सम्बन्धित आँकड़े चौंकाने वाले हैं। किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है—

तालीम का शोर इतना, तहजीब का गुल इतना।
बरकत जो नहीं होती, नीयत की ख़राबी है।।

आज मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि इस तथाकथित सभ्यता के विकास के साथ उसकी आदिम युग की एक सहज, सरल एवं स्वाभाविक जीवन-शैली भी उससे छिन गई है, आज जीवन के हर क्षेत्र में कृत्रिमता और छद्मों का बाहुल्य है। मनुष्य आज न तो अपनी मूलप्रवृत्तियों एवं वासनाओं का शोधन या उदात्तीकरण कर पाया है और न इस तथाकथित सभ्यता के आवरण को बनाये रखने के लिए उन्हें सहज रूप में प्रकट ही कर पा रहा है। उसके भीतर उसका 'पशुत्व' कुलाँचें भर रहा है, किन्तु बाहर वह अपने को 'सभ्य' दिखाना चाहता है। अन्दर वासना की उद्दाम ज्वालाएँ और बाहर सच्चरित्रता और सदाशयता का छद्म जीवन, यही आज के मानस की त्रासदी है, पीड़ा है। आसक्ति, भोगलिप्सा, भय, क्रोध, स्वार्थ और कपट की दमित मूलप्रवृत्तियाँ और उनसे जन्य दोषों के कारण मानवता आज भी अभिशिप्त है, आज वह दोहरे संघर्ष से गुजर रही है— एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। आन्तरिक संघर्षों के कारण आज उसका मानस तनावयुक्त है, विक्षुब्ध है, तो बाह्य संघर्षों के कारण मानव-जीवन अशान्त और अस्त-व्यस्त। आज मनुष्य का जीवन मानसिक तनावों, सांवेगिक असन्तुलनों और मूल्य संघर्षों से युक्त है। आज का मनुष्य परमाणु तकनीक की बारीकियों को अधिक जानता है किन्तु एक सार्थक सामञ्जस्यपूर्ण जीवन के आवश्यक मूल्यों के प्रति उसका उपेक्षाभाव है। वैज्ञानिक प्रगति से समाज के पुराने मूल्य ढह चुके हैं और नये मूल्यों का सृजन अभी हो नहीं पाया है। आज हम मूल्यरिक्तता की स्थिति में जी रहे हैं और मानवता नये मूल्यों की प्रसव-पीड़ा से गुजर रही है। आज वह एक निर्णायक मोड़ पर खड़ी हुई है; उसके सामने दो ही विकल्प हैं— या तो पुनः अपने प्रकृत आदिम जीवन की ओर लौट जाये या फिर एक नये मानव का सृजन करे, किन्तु पहला विकल्प अब न तो सम्भव है और न वरेण्य। अतः आज एक ही विकल्प शेष है— एक नये आध्यात्मिक मानव का निर्माण, अन्यथा आज हम उस कगार पर खड़े हैं, जहाँ मानव जाति का सर्वनाश हमें पुकार रहा है। यहाँ जोश का यह कथन कितना मौजूँ है—

सफाइयाँ हो रही हैं जितनी, दिल उतने ही हो रहे हैं मैले।
अन्धेरा छा जायेगा जहाँ में, अगर यही रोशनी रहेगी।।

इस निर्णायक स्थिति में मानव को सर्वप्रथम यह तय करना है कि आध्यात्मवादी और भौतिकवादी जीवन दृष्टियों में से कौन उसे वर्तमान संकट से उबार सकता है? जैन धर्म कहता है कि भौतिकवादी दृष्टि मनुष्य की उस भोग-लिप्सा तथा तद्जनित स्वार्थ एवं शोषण की पाशविक प्रवृत्तियों का निरसन करने में सर्वथा असमर्थ है, क्योंकि भौतिकवादी दृष्टि में मनुष्य मूलतः पशु ही है। वह मनुष्य को एक आध्यात्मिक (Spiritual being) न मानकर एक विकसित सामाजिक पशु (Developed social animal) ही मानती है। जबकि जैन धर्म मानव को विवेक और संयम की शक्ति से युक्त मानता है। भौतिकवाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार मनुष्य का निःश्रेयस् उसकी शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक माँगों की सन्तुष्टि में ही है। वह मानव की भोग-लिप्सा की सन्तुष्टि को ही उसका चरम लक्ष्य घोषित कर देता है। यद्यपि वह एक आरोपित सामाजिकता के द्वारा मनुष्य की स्वार्थ एवं शोषण की पाशविक वृत्तियों का नियमन करना अवश्य चाहता है, किन्तु इस आरोपित सामाजिकता का परिणाम मात्र इतना ही होता है कि मनुष्य प्रत्यक्ष में शान्त और सभ्य होकर भी परोक्ष में अशान्त एवं उद्दीप्त बना रहता है और उन अवसरों की खोज करता है जब समाज की आँख बचाकर अथवा सामाजिक आदर्शों के नाम पर उसकी पाशविक वृत्तियों को छद्म रूप में खुलकर खेलने का अवसर मिले। भौतिकवाद मानव की पाशविक वृत्तियों के नियन्त्रण का प्रयास तो करता है, किन्तु वह उस दृष्टि का उन्मूलन नहीं करता है, जो कि इस पाशविक वृत्तियों का मूल उद्गम है। उसका प्रयास जड़ों को सींचकर शाखाओं के काटने का प्रयास है। वह रोग के कारणों को खोजकर उन्हें समाप्त नहीं करता है, अपितु मात्र रोग के लक्षणों को दबाने का प्रयास करता है। यदि जीवन की मूल दृष्टि भौतिक उपलब्धि और दैहिक वासनाओं की सन्तुष्टि हो तो स्वार्थ और शोषण का चक्र भी समाप्त नहीं होगा। उसके लिए हमें जीवन के उच्च मूल्यों या आदर्शों को स्वीकार करना होगा। जब तक एक आध्यात्मिक दृष्टि के आधार पर सामाजिकता को विकसित नहीं किया जाता है, तब तक आरोपित सामाजिकता से मानव की स्वार्थ एवं शोषण की वृत्तियों का वास्तविक रूप में निराकरण असम्भव है।

दुःख का मूल ममता

भगवान् महावीर ने इस तथ्य को गहराई से समझा था कि भौतिकवाद मानवीय दुःखों की मुक्ति का सम्यक्-मार्ग नहीं है, क्योंकि वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर सकता जिससे दुःख-परम्परा की यह धारा प्रस्फुटित होती है। वे उत्तराध्ययन सूत्र में कहते हैं कि "कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं जं काइयं माणसियं च किंचि" अर्थात् समस्त भौतिक एवं मानसिक दुःखों का मूल कारण कामासक्ति है। भौतिकवाद के पास इस कामासक्ति या ममत्वबुद्धि को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। न केवल जैन धर्म ने अपितु लगभग सभी धर्मों ने इस बात को एकमत से स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति, तृष्णा या ममत्वबुद्धि है। यदि हम मानव जाति को स्वार्थ, हिंसा, शोषण, भ्रष्टाचार एवं तद्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिकावादी दृष्टि का परित्याग कर उस आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा जिसके अनुसार भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। हमें यह मानना होगा कि दैहिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आर्थिक मूल्यों से परे अन्य उच्च मूल्य भी हैं। आध्यात्म-दृष्टि अन्य कुछ नहीं, अपितु इन उच्च मूल्यों की स्वीकृति है। जैन-धर्म के अनुसार अध्यात्म का अर्थ है— परार्थ को परम मूल्य न मानकर आत्म को परम मूल्य मानना। पदार्थवादी दृष्टि मानवीय दुःखों और सुखों का आधार 'वस्तु' या बाह्य परिस्थिति को मानती है, उसके अनुसार सुख-दुःख वस्तुगत लक्ष्य हैं। अतः भौतिकवादी मानव सुख की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनके संग्रह हेतु स्तेय, शोषण एवं संघर्ष जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है। इसके विपरीत जैन धर्म या अध्यात्म हमें यह सिखाता है कि सुख-दुःख आत्मकृत हैं। बाहर न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु है। सुप्रस्थित आत्मा मित्र है और दुःप्रस्थित आत्मा शत्रु है। अतः सुख-दुःख की खोज पदार्थों में न कर आत्मा में करना है। जैन आचार्य कहते हैं कि यह ज्ञान-दर्शन स्वरूप शाश्वत आत्म तत्त्व ही अपना है, शेष सभी संयोगजन्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, अपने नहीं हैं। इन सांयोगिक उपलब्धियों में ममत्वबुद्धि दुःख-परम्परा का कारण है, अतः आनन्द की प्राप्ति हेतु इनके प्रति ममत्वबुद्धि का सर्वथा त्याग करना अपेक्षित है। संक्षेप में देहादि आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममत्वबुद्धि का त्याग और भौतिक उपलब्धियों के स्थान पर आत्मोपलब्धि अर्थात् वीतराग दशा की उपलब्धि को जीवन का निःश्रेयस स्वीकार करना अध्यात्मविद्या और जैनधर्म का मूलतत्त्व है और यही मानव जाति के मङ्गल का मार्ग है, क्योंकि इसी के द्वारा आधुनिक मानव को आन्तरिक एवं बाह्य तनावों से मुक्त कर निराकुल बनाया जा सकता है।

ममता का विसर्जन / दुःख का निराकरण

आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाये। जैन धर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथभाष्य में कहा गया है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। शरीर शाश्वत आनन्द के कूल पर ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्त्व भी है और उसका सार-सम्भाल भी करना है। किन्तु ध्यान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं, कूल पर होना है, नौका साधन है, साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की एक साधन के रूप में स्वीकृति जैन धर्म और सम्पूर्ण अध्यात्मविद्या का हार्द है। यह वह विभाजक रेखा है, जो अध्यात्म और भौतिकवाद में अन्तर स्पष्ट करती है। भौतिकवाद में भौतिक उपलब्धियाँ या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य हैं, अन्तिम हैं, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों का साधन हैं। जैन धर्म की भाषा में कहें तो साधक का वस्तुओं का त्याग और वस्तुओं का ग्रहण दोनों ही संयम (समत्व) की साधना के लिए हैं। जैन धर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है, जो कि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति या अस्वीकृति का नहीं है; अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व के संस्थापन का है। अतः जहाँ तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियाँ उसमें साधक हो सकती हैं, वहाँ तक वे स्वीकार्य हैं और जहाँ तक वे उसमें बाधक हैं वहाँ तक त्याज्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर ने आचाराङ्गसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दु:खद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दु:खद अनुभूति न हो, अत: त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का करना है, क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय आसक्तचित्त के लिए ही राग-द्वेष (मानसिक विक्षोभों) का कारण बनते हैं, अनासक्त या वीतराग के लिए नहीं। अत: जैन धर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं, क्योंकि उसकी दृष्टि में ममत्व या आसक्ति ही वैयक्तिक और समाजिक जीवन की समस्त विषमताओं का मूल है और इसके निराकरण के द्वारा ही मनुष्य के समस्त दु:खों का निराकरण सम्भव है।

धर्म साधना का उद्देश्य है— व्यक्ति को शान्ति प्रदान करना, किन्तु दुर्भाग्य से आज धर्म के नाम पर पारस्परिक संघर्ष पनप रहे हैं— एक धर्म के लोगों को दूसरे धर्म के लोगों से लड़ाया जा रहा है। शान्तिप्रदाता धर्म ही आज अशान्ति का कारण बन गया है। वस्तुत: इसका कारण धर्म नहीं, अपितु धर्म का लबादा ओढ़े अधर्म ही है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमने 'धर्म के मर्म' को समझा नहीं है। थोथे क्रियाकाण्ड और बाह्य आडम्बर ही धर्म के परिचायक बन गये हैं। आयें देखें धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है?

धर्म का स्वरूप

धर्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा प्रत्येक मानव में पाई जाती है। धर्म क्या है? इस प्रश्न के आजतक अनेक उत्तर दिये गये हैं, किन्तु जैन आचार्यों ने जो उत्तर दिया है वह विलक्षण है तथा गम्भीर विवेचना की अपेक्षा करता है। वे कहते हैं —

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ।।

वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि भावों की अपेक्षा से वह दस प्रकार का है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र) भी धर्म है तथा जीवों की रक्षा करना भी धर्म है। सर्वप्रथम वस्तु स्वभाव को धर्म कहा गया है, आयें जरा इस पर गम्भीरता से विचार करें। सामान्यतया धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। हिन्दी भाषा में जब हम कहते हैं कि आग का धर्म जलाना है, पानी का धर्म शीतलता है तो यहाँ धर्म से हमारा तात्पर्य वस्तु के स्वाभाविक गुणों से होता है। किन्तु जब यह कहा जाता है कि दु:खी एवं पीड़ितजनों की सेवा करना मनुष्य का धर्म है अथवा गुरु की आज्ञा का पालन शिष्य का धर्म है तो यहाँ धर्म का अर्थ होता है कर्तव्य या दायित्व। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि मेरा धर्म जैन है या उसका धर्म ईसाई है, तो हम एक तीसरी ही बात कहते हैं। यहाँ धर्म का मतलब है किसी दिव्य-सत्ता, सिद्धान्त या साधना-पद्धति के प्रति हमारी श्रद्धा, आस्था या विश्वास। अक्सर हम धर्म से यही तीसरा अर्थ लेते हैं। जबकि यह तीसरा अर्थ धर्म का अभिरुढ़ अर्थ है, वास्तविक अर्थ नहीं है। सच्चा धर्म सिर्फ धर्म है, वह न हिन्दू होता है, न जैन, न बौद्ध, न ईसाई, न इस्लाम। ये सब नाम आरोपित हैं। हमारा सच्चा धर्म तो वही है जो हमारा निज-स्वभाव है। इसीलिये जैन आचार्यों ने 'वत्थु सहावो धम्मो' के रूप में धर्म को पारिभाषित किया है। प्रत्येक के लिये जो उसका निज-गुण है, स्व-स्वभाव है, वही धर्म है, स्व-स्वभाव से भिन्न जो भी होगा, वह उसके लिये धर्म नहीं, अधर्म ही होगा। इसीलिये गीता में कहा गया है 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:' (गीता, ३/३५)। परधर्म अर्थात् दूसरे के स्वभाव को इसलिये भयावह कहा गया, क्योंकि वह हमारे लिये स्वभाव न होकर विभाव होगा और जो विभाव है, वह धर्म न होकर अधर्म ही होगा। अत: आपका धर्म वही है जो आपका निज-स्वभाव है। किन्तु आप सोचते होंगे कि बात अधिक स्पष्ट नहीं हुई। इससे हम कैसे जान लें कि हमारा धर्म क्या है? वस्तुत: हमें अपने धर्म को समझने के लिए अपने स्वभाव या अपनी प्रकृति को जानना होगा। किन्तु यहाँ यह बात भी समझ लेनी होगी कि अनेक बार हम आरोपित या पराश्रित गुणों को भी अपना स्वभाव या प्रकृति मान लेते हैं। अत: हमें स्वभाव और विभाव में अन्तर को समझ लेना है। स्वभाव वह है, जो स्वत: (अपने आप) होता है और विभाव वह है, जो दूसरे के कारण होता है, जैसे पानी में शीतलता स्वाभाविक है, किन्तु उष्णता वैभाविक है, क्योंकि उसके लिये उसे आग के संयोग की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, जिसे होने के लिये किसी बाहरी तत्त्व की अपेक्षा है वह सब विभाव है, पर-धर्म है। शीतलता पानी का धर्म है और जलाना आग का धर्म है। पुन: जिस गुण को छोड़ा जा सकता है वह उस वस्तु का धर्म नहीं हो सकता है। किन्तु जो गुण पूरी तरह छोड़ा नहीं जा सकता है वही उस वस्तु का स्व-धर्म होता है। आग चाहे किसी भी रूप में हो वह जलायेगी ही, पानी चाहे आग के संयोग से कितना ही गरम क्यों न हो यदि उसे आग पर डालेंगे तो वह आग को शीतल ही करेगा। आप सोचते होंगे कि आग और पानी की धर्म की इस चर्चा से मनुष्य के धर्म को हम कैसे जान पायेंगे? यहाँ इस चर्चा की उपयोगिता यही है कि हम स्वभाव और विभाव का अन्तर समझ लें, क्योंकि अनेक बार हम आरोपित गुणों को ही स्वभाव मानने की भूल कर बैठते हैं, अक्सर हम कहते हैं उसका स्वभाव क्रोधी है। प्रश्न यह उठता है कि क्या क्रोध स्वभाव है या हो भी सकता है? बात ऐसी नहीं है। इस कसौटी पर क्रोध और शान्ति के दो गुणों को कसिये और देखिये, इनमें से मनुष्य का स्वधर्म क्या है? पहली बात तो यह है कि क्रोध कभी स्वत: नहीं होता, बिना किसी बाहरी कारण के हम क्रोध नहीं करते हैं। गुस्से या क्रोध का कोई न कोई बाह्य कारण अवश्य होता है, गुस्सा कभी अकारण नहीं होता है। साथ ही गुस्से के लिए किसी दूसरे का होना जरुरी है, गुस्सा या क्रोध बिना किसी प्रतिपक्षी के स्वत: नहीं होता है, अकेले में नहीं होता है। किसी गुस्से से भरे आदमी को अकेले में ले जाइये, आप देखेंगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका गुस्सा धीरे-धीरे शान्त हो रहा है— गुस्से के बाह्य कारणों एवं प्रतिपक्षी के दूर हो जाने पर गुस्सा ठहर नहीं सकता है। पुनः गुस्सा आरोपित है, वह छोड़ा जा सका है, कोई भी व्यक्ति चौबीसों घण्टे क्रोध की स्थिति में नहीं रह सकता, किन्तु शान्त रह सकता है। अत: मनुष्य के लिये क्रोध विधर्म है, अधर्म है और शान्ति स्वधर्म है, निजगुण है। क्या धर्म है और क्या अधर्म है, इसका निर्णय इसी पद्धति से सम्भव है।

हमारे सामने मूल प्रश्न तो यह है कि मनुष्य का धर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें मानव-प्रकृति या मानव-स्वभाव को जानना होगा। जो मनुष्य का स्वभाव होगा वही मनुष्य के लिये धर्म होगा। हमें यह विचार करना है कि एक मनुष्य के रूप में हम क्या हैं? मानव अस्तित्व द्विआयामी (Two Dimensional) है। मनुष्य विवेकात्मक चेतना से युक्त एक शरीर है। शरीर और चेतना यह हमारे अस्तित्व के दो पक्ष हैं, किन्तु इसमें भी हमारे अस्तित्व का मूल आधार जीवन एवं चेतना ही है, चेतन-जीवन के अभाव में शरीर का कोई मूल्य नहीं है। शरीर का महत्त्व तो है, किन्तु वह उसकी चेतन-जीवन से युति पर निर्भर है। चेतन-जीवन स्वत: मूल्यवान् है और शरीर परत: मूल्यावान् है। जिस प्रकार कागजी मुद्रा का स्वयं में कोई मूल्य नहीं होता उसका मूल्य सरकार की साख पर निर्भर करता है, उसी प्रकार शरीर का मूल्य चेतन-जीवन की शक्ति पर निर्भर करता है। हमारे अस्तित्व का सार हमारी चेतना है। चेतन-जीवन ही वास्तविक जीवन है। चेतना के अभाव में शरीर को 'शव' कहा जाता है। चेतना ही एक ऐसा तत्त्व है जो 'शव' को 'शिव' बना देता है। अत: जो चेतना का स्वभाव होगा वही हमारा वास्तविक धर्म होगा। हमें अपने 'धर्म' को समझने के लिये 'चेतना' के स्वलक्षण को जानना होगा। चेतना क्या है? इस प्रश्न का उत्तर हमें भगवान् महावीर और गौतम के बीच हुए एक सम्वाद में मिलता है। गौतम पूछते हैं— भगवन्! आत्मा क्या है? और आत्मा का अर्थ या साध्य क्या है? महावीर उत्तर देते हैं— गौतम! आत्मा का स्वरूप 'समत्व' है और 'समत्व' को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है (भगवतीसूत्र)। यह बात न केवल दार्शनिक दृष्टि से सत्य है अपितु जीवशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य है। जीवशास्त्र (Biology) के अनुसार चेतन जीव का लक्षण आन्तरिक और बाह्य संतुलन को बनाये रखना है। फ्रायड नामक सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कथन है— चैत्त जीवन और स्नायुजीवन का स्वभाव यह है कि वह विक्षोप और तनाव को मिटाकर समत्व की स्थापना करता है। विक्षोभ, तनाव और मानसिक द्वन्द्वों से ऊपर उठकर शान्त, निर्द्वन्द्व मन: स्थिति को प्राप्त करना यह हमारी स्वाभाविक अपेक्षा है और यही धर्म है।

विश्व के लगभग सभी धर्मों ने समाधि, समभाव या समता को धार्मिक जीवन का मूलभूत लक्षण माना है। आचाराङ्गसूत्र में 'समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए' (१/८/३) कहकर धर्म को 'समता' के रूप में परिभाषित किया गया है। समता धर्म है, विषमता अधर्म है। वस्तुत: वे सभी तत्त्व जो हमारी चेतना में विक्षोभ, तनाव या विचलन उत्पन्न करते हैं अर्थात् चेतना के सन्तुलन को भंग करते हैं, विभाव के सूचक हैं, इसीलिये अधर्म हैं। अक्सर हम राग-द्वेष, घृणा, आसक्ति, ममत्व, तृष्णा, काम, क्रोध, अहङ्कार आदि को अधर्म (पाप) कहते हैं और क्षमा, शान्ति, अनासक्ति, निर्वैरता, वीतरागता, विरागता, निराकुलता आदि को धर्म कहते हैं, ऐसा क्यों है? बात स्पष्ट है। प्रथम वर्ग के तथ्य जहाँ हमारी आकुलता को बढ़ाते हैं, हमारे मन में विक्षोभ और चेतना में तनाव (Tension) उत्पन्न करते हैं वहीं दूसरे वर्ग के तथ्य उस आकुलता, विक्षेभि या तनाव को कम करते हैं, मिटाते हैं। पूर्वोक्त गाथा में क्षमादि भावों को जो धर्म कहा गया है, उसका आधार यही है।

मानसिक विक्षोभ या तनाव हमारा स्वभाव या स्वलक्षण इसलिये नहीं माना जा सकता है क्योंकि हम उसे मिटाना चाहते हैं, उसका निराकरण करना चाहते हैं और जिसे आप छोड़ना चाहते हैं, मिटाना चाहते हैं, वह आपका स्वभाव नहीं हो सकता। पुन: राग, आसक्ति, ममत्व, अहङ्कार, क्रोध आदि सभी 'पर' की अपेक्षा करते हैं, उनके विषय 'पर' हैं। उनकी अभिव्यक्ति अन्य के लिए होती है। राग, आसक्ति या ममत्व किसी पर होगा। इसी प्रकार क्रोध या अहङ्कार की अभिव्यक्ति भी दूसरे के लिये है। इन सबके कारण सदैव ही बाह्य जगत् में होते हैं, ये स्वत: नहीं होते, परत: होते हैं। इसीलिये ये आत्मा के विभाव कहे जाते हैं और जो भी विभाव हैं, वे सब अधर्म हैं। जबकि जो स्वभाव है या विभाव से स्वभाव की ओर लौटने के प्रयास हैं वे सब धर्म हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है— धारण करना। सामान्यतया जो प्रजा को धारण करता है, वह धर्म है, 'धर्मो धारयते प्रजा'। इस रूप में धर्म को परिभाषित किया जाता है, किन्तु मेरी दृष्टि में जो हमारे अस्तित्व या सत्ता के द्वारा धारित है अथवा जिसके आधार, अस्तित्व या सत्ता रही हुई है वही 'धर्म' है। किसी भी वस्तु का धर्म वही है जिसके कारण वह वस्तु उस वस्तु के रूप में अपना अस्तित्व रखती है और जिसके अभाव में उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिये विवेक और संयम के गुणों के अभाव में मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं रहेगा, यदि विवेक और संयम के गुण हैं तो ही मनुष्य, मनुष्य है।

यदि हम मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं और धर्म को 'धर्मो धारयते प्रजा' के अर्थ में लेते हैं तो उस स्थिति में धर्म का अर्थ होगा— जो हमारी समाज-व्यवस्था को बनाये रखता है, वही धर्म है। वे सब बातें जो सामाजिक जीवन में बाधा उपस्थित करती हैं और हमारे स्वार्थों को पोषण देकर हमारी सामाजिकता को खण्डित करती हैं, सामाजिक जीवन में अव्यवस्था और अशान्ति में कारणभूत होती हैं, अधर्म हैं। इसीलिये तृष्णा, विद्वेष, हिंसा, शोषण, स्वार्थपरता आदि को अधर्म और परोपकार, करुणा, दया, सेवा आदि को धर्म कहा गया है, क्योंकि जो मूल्य हमारी सामाजिकता की स्वाभाविक वृत्ति का रक्षण करते हैं, वे धर्म हैं और उसे जो खण्डित करते हैं, वे अधर्म हैं। यद्यपि धर्म की यह व्याख्या दूसरों के सन्दर्भ में है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसे समाज-धर्म कह सकते हैं।

स्वभाव या आत्मधर्म ऐसा तत्त्व है जो बाहर से लाया नहीं जाता है, वह तो विभाव के हटते ही स्वत: प्रकट हो जाता है जैसे आग के संयोग के हटते ही पानी स्वत: शीतल हो जाता है, वैसे ही धर्म के लिये कुछ करना नहीं होता, केवल अधर्म को छोड़ना होता है, विभावदशा को दूर करना होता है, क्योंकि उसे ही छोड़ा या त्यागा जा सकता है जो आरोपित होता है और वह विभाव होगा, स्वभाव नहीं। धर्म साधना के नाम पर जो भी प्रयास हैं, वे सब अधर्म को त्यागने के लिये है, विभाव-दशा को मिटाने के लिये हैं धर्म तो आत्मा की शुद्धता है, उसे लाना नहीं है, क्योंकि वह बाहरी नहीं है, केवल विषय कषाय रूप मल को हटाना है। जैसे बादल के हटते प्रकाश स्वत: प्रकट हो जाता है वैसे ही अधर्म या विभाव के हटते धर्म या स्वभाव प्रकट हो जाता है। इसीलिये धर्म ओढ़ा नहीं जाता है, धर्म जिया जाता है। अधर्म आरोपित होता है, वह एक दोहरा जीवन प्रस्तुत करता है, क्योंकि उसके पापखण्ड भी दोहरे होते हैं। अधार्मिकजन दूसरों से अपने प्रति जिस व्यवहार की अपेक्षा करता है, दूसरों के प्रति उसके ठीक विपरीत व्यवहार करना चाहता है। इसीलिये धर्म की कसौटी आत्मवत् व्यवहार माना गया। 'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां मा समाचरेत्' के पीछे भी यही ध्वनि रही है। धर्म का सार है— निश्छलता, सरलता, स्पष्टता; जहाँ भी इनका अभाव होगा, वहाँ धर्म को जिया नहीं जायेगा अपितु ओढ़ा जायेगा। वहाँ धर्म नहीं, धर्म का दम्भ पनपेगा और हमें याद रखना होगा कि वह धर्म का दम्भ अधार्मिकता से अधिक खतरनाक है। क्योंकि इसमें अधर्म, धर्म की पोषाक को ओढ़ लेता है, वह दीखता धर्म है, किन्तु होता है अधर्म। मानव जाति का दुर्भाग्य यही है कि आज धर्म के नाम पर जो कुछ चल रहा है वह सब आरोपित है, ओढ़ा गया है और इसीलिये धर्म के नाम पर अधर्म पनप रहा है। आज धर्म को कितने ही थोथे और निष्प्राण कर्मकाण्डों से जोड़ दिया गया है, क्या पहनें और क्या नहीं पहनें, क्या खायें और क्या नहीं खायें, प्रार्थना के लिये मुँह किस दिशा में करें और किस दिशा में नहीं करें, प्रार्थना की भाषा क्या हो, पूजा के द्रव्य क्या हों? आदि आदि। ये सब बातें धर्म का शरीर हो सकती हैं, क्योंकि ये शरीर से गहरे नहीं जाती हैं, किन्तु निश्चय ही ये धर्म की आत्मा नहीं है। धर्म की आत्मा तो है— समाधि, शान्ति, निराकुलता। धर्म तो सहज और स्वाभाविक है। दुर्भाय यही है कि आज लोग धर्म के नाम पर बहुत कुछ कर रहे हैं परन्तु अधर्म या विभावदशा को छोड़ नहीं रहे हैं। आज धर्म को ओढ़ा जा रहा है, इसीलिये आज का धर्म निरर्थक बन गया है। यह कार्य तो ठीक वैसा ही है जैसे किसी दुर्गन्ध के ढेर को स्वच्छ सुगन्धित आवरण से ढक दिया गया हो। यह बाह्य प्रतीति से सुन्दर होती है किन्तु वास्तविकता कुछ और ही होती है। यह तथाकथित धर्म ही धर्म के लिये सबसे बड़ा खतरा है, इसमें अधर्म को छिपाने के लिये धर्म किया जाता है। आज धर्म के नाम पर जो कुछ किया जा रहा है उसका कोई लाभ नहीं मिल रहा है। आज हमारी दशा ठीक वैसे ही है जैसे कोई रोगी दवा तो ले किन्तु कुपत्य को छोड़े नहीं। धर्म के नाम पर आत्म-प्रवंचना एवं छलछद्म पनप रहा है, इसका मूल कारण है धर्म के सारतत्त्व के बारे में हमारा गहरा अज्ञान। हम धर्म के बारे में जानते हैं किन्तु धर्म को नहीं जानते हैं।

आज हमने आत्म-धर्म क्या है, हमारा निजगुण या स्वभाव क्या है, इसे समझा ही नहीं है और निष्प्राण कर्मकाण्डों और रीतिरिवाजों को ही धर्म मान बैठे हैं। आज हमारे धर्म चौके-चूल्हे में, मन्दिरों-मस्ज़िदों और उपासना गृहों में सीमित हो गये हैं, जीवन से उनका कोई सम्पर्क नहीं है। इसीलिये वह जीवित धर्म नहीं, मुर्दा धर्म है। किसी शायर ने ठीक ही कहा है—

मस्जिद तो बना दी पल भर में इमां की हरारत वालों ने ।
मन वही पुराना पापी रहा, बरसों में नमाजी न हो सका ।।

आज धर्म के नाम पर जो भी किया जाता है उसका सम्बन्ध परलोक से जोड़ा जाता है। आज धर्म उधार सौदा बन गया है और इसीलिए आज धर्म से आस्था उठती जा रही है। किन्तु याद रखिये वास्तविक धर्म उधार सौदा नहीं, नकद सौदा है। उसका फल तत्काल है। भगवान् बुद्ध से किसी ने पूछा कि धर्म का फल इस लोक में मिलता है या परलोक में? उन्होंने कहा था— धर्म का फल तो उसी समय मिलता है। जैसे ही मोह टूटता है, तृष्णा छूटती है, चाह और चिन्ता कम हो जाती है, मन शान्ति और आनन्द से भर जाता है, यही तो धर्म का फल है। हम यदि अपनी अन्तरात्मा से पूछें कि हम क्या चाहते हैं? उत्तर स्पष्ट है हमें सुख चाहिये, शान्ति चाहिये, समाधि या निराकुलता चाहिये और जो कुछ आपकी अन्तरात्मा आपसे माँगती है वही तो आपका स्वभाव है, आपका धर्म है। जहाँ मोह होगा, राग होगा, तृष्णा होगी, आसक्ति होगी, वहाँ चाह बढ़ेगी, जहाँ चाह बढ़ेगी, वहाँ चिन्ता बढ़ेगी और जहाँ चिन्ता होगी वहाँ मानसिक असमाधि या तनाव होगा और जहाँ मानसिक तनाव या विक्षोभ है वहीं तो दु:ख है, पीड़ा है। जिस दु:ख को मिटाने की हमारी ललक है उसकी जड़े हमारे अन्दर हैं, किन्तु दुर्भाग्य यही है कि हम उसे बाहर के भौतिक साधनों से मिटाने का प्रयास करते रहे हैं। यह तो ठीक वैसा ही हुआ जैसे घाव कहीं और हो और मलहम कहीं और लगायें। अपरिग्रहवृत्त या अनासक्ति को जो धर्म कहा गया, उसका आधार यही है कि वह ठीक उस जड़ पर प्रहार करता है, जहाँ से दु:ख की विषवेल फूटती है, आकुलता पैदा होती है। वह धर्म इसीलिये है कि वह हमें आकुलता से निराकुलता की दिशा में, विभाव से स्वभाव की दिशा में ले जाती है। किसी कवि ने कहा है—

चाह गई, चिन्ता मिटी मनुआ भया बेपरवाह।
जिसको कुछ न चाहिये, वह शहंशाहों का शहंशाह।।

निराकुलता एवं आकुलता ही धर्म और अधर्म की सीधी और साफ कसौटी है। जहाँ आकुलता है, तनाव है, असमाधि है वहाँ अधर्म है और जहाँ निराकुलता है, शान्ति है, समाधि है, वहाँ धर्म है। जिन बातों से व्यक्ति में अथवा उनके सामाजिक परिवेश में आकुलता बढ़ती है, तनाव पैदा होता है, अशान्ति बढ़ती है, विषमता बढ़ती है, वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब बातें अधर्म हैं, पाप हैं। इसके विपरीत जिन बातों से व्यक्ति में और उसके सामाजिक परिवेश में निराकुलता आये, शान्ति आये, तनाव घटे, विषमता समाप्त हो, वे सब धर्म हैं। धार्मिकता के आदर्श के रूप में जिस वीतराग, वीततृष्णा और अनासक्त जीवन की कल्पना की गई है, उसका अर्थ यही है कि जीवन में निराकुलता, शान्ति और समाधि आए। धर्म का सार यही है, फिर चाहे हम इसे कुछ भी नाम क्यों न दें। श्री सत्यनारायणजी गोयनका कहते हैं —

धर्म न हिन्दू बौद्ध है, धर्म न मुस्लिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शान्ति सुख चैन ।।
कुदरत का कानून है, सब पर लागू होय।
विकृत मन व्याकुल रहे, निर्मल सुखिया होय ।।
यही धर्म की परख है, यही धर्म का माप।
जन-मन का मंगल करे, दूर करे सन्ताप ।।

जिस प्रकार मलेरिया, मलेरिया है, वह न जैन है, न बौद्ध है न हिन्दू और न मुसलमान, उसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आध्यात्मिक विकृतियाँ हैं, वे भी हिन्दू, बौद्ध या जैन नहीं हैं, हम ऐसा नहीं कहते हैं कि यह हिन्दू क्रोध है यह जैन या बौद्ध क्रोध है। यदि क्रोध हिन्दू, बौद्ध या जैन नहीं है तो फिर उसका उपशमन भी हिन्दू, बौद्ध या जैन नहीं कहा जा सकता है। विकार, विकार है और स्वास्थ्य, स्वास्थ्य है, वे हिन्दू, बौद्ध या जैन नहीं हैं। जिन्हें हम हिन्दू, जैन, बौद्ध या अन्य किसी धर्म के नाम से पुकारते हैं, वह विकारों के उचार की शैली विशेष है जैसे एलोपैथी, आयुर्वेदिक, यूनानी, होम्योपैथी आदि शारीरिक रोगों के उपचार की पद्धति है।

समता धर्म/ममता अधर्म

धर्म क्या है? इस प्रश्न का सबसे संक्षिप्त और सरल उत्तर यही है कि वह सब धर्म है, जिसमें मन की आकुलता समाप्त हो, चाह और चिन्ता मिटे तथा मन निर्मलता, शांति, समभाव और आनन्द से भर जाये। इसीलिये महावीर ने धर्म को समता या समभाव के रूप में परिभाषित किया था। समता ही धर्म है और ममता अधर्म है। वीतराग, अनासक्त और वीततृष्णा होने में जो धार्मिक आदर्श की परिपूर्णता देखी गई, उसका कारण भी यही है कि यह आत्मा की निराकुलता या शान्ति की अवस्था है। आत्मा की इसी निराकुल दशा को हिन्दू और बौद्ध परम्परा में समाधि तथा जैन परम्परा में सामायिक या समता कहा गया है। हमारे जीवन में धर्म है, या नहीं है इसको जानने की एकमात्र कसौटी यह है कि सुख-दुःख, मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि की अनुकूल एवं प्रतिकूल अवस्थाओं में हमारा मन कितना अनुद्विग्न और शान्त बना रहता है। यदि अनुकूल परिस्थितियों में मन में सन्तोष न हो चाह और चिन्ता बनी रहे तथा प्रतिकूल स्थितियों में मन दुःख और पीड़ा से भर जावे तो हमें समझ लेना चाहिये कि जीवन में अभी धर्म नहीं आया है। धर्म का सीधा सम्बन्ध हमारी जीवनदृष्टि और जीवनशैली से है। बाह्य परिस्थितियों से हमारी चेतना जितनी अधिक अप्रभावित और अलिप्त रहेगी उतना ही जीवन में धर्म का प्रकटन होगा। क्योंकि मनुष्य के लिये यह सम्भव नहीं है कि उसके जीवन में उतार और चढ़ाव नहीं आये। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, मान-अपमान आदि ये जीवन-चक्र के दुर्निवार पहलू हैं, कोई भी इनसे बच नहीं सकता। जीवन-यात्रा का रास्ता सीधा और सपाट नहीं है, उसमें उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। बाह्य परिस्थितियों पर आपका अधिकार नहीं है, आपके अधिकार में केवल एक ही बात है, वह यह कि आप इन अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों में अपने मन को, अपनी चेतना को निराकुल और अनुद्विग्न बनाये रखें; मानसिक समता और शांति को भंग नहीं होने दें। यही धर्म है। श्री गोयनका जी के शब्दों में—

सुख दुःख आते ही रहें, ज्यों आवे दिन रैन।
तू क्यों खोवे बावला, अपने मन की चैन ।।

अतः मन की चैन नहीं खोना ही धर्म और धार्मिकता है। जो व्यक्ति जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी चित्त की शान्ति नहीं खोता है, वही धार्मिक है उसी के जीवन में धर्म का अवतरण हुआ है। कौन धार्मिक है और कौन अधार्मिक है, इसकी पहचान यही है कि किसका चित्त शान्त है और किसका अशान्त। जिसका चित्त या मन अशान्त है वह अधर्म में जी रहा है, विभाव में जी रहा है और जिसका मन या चित्त शांत है वह धर्म में जी रहा है, स्वभाव में जी रहा है। एक सच्चे धार्मिक पुरुष की जीवनदृष्टि अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोगों में कैसी होगी इसका एक सुन्दर चित्रण उर्दू शायर ने किया है, वह कहता है —

लायी हयात आ गये, कजा ले चली चले चले।
न अपनी खुशी आये, न अपनी खुशी गये।।

जिन्दगी और मौत दोनों ही स्थितियों में जो निराकुलता और शान्त बना रहता है वही धार्मिक है, धर्म का प्रकटन उसी के जीवन में हुआ है। धार्मिकता की कसौटी पर नहीं है कि तुमने कितना पूजा-पाठ किया है, कितने उपवास और रोजे रखे हैं, अपितु यही है कि तुम्हारा मन कितना अनुद्विग्न और निराकुल बना है। जीवन में जब तक चाह और चिन्ता बनी हुई है धार्मिकता का आना सम्भव नहीं है। फिर वह चाह और चिन्ता परिवार की हो या शिष्य-शिष्याओं की, घर और दुकान की हो, मठ और मन्दिर की, धन-सम्पत्ति की हो या पूजा-प्रतिष्ठा की, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

जब तक जीवन में तृष्णा और स्पृहा है, दूसरों के प्रति जलन की भट्टी सुलग रही है, धार्मिकता सम्भव नहीं है। धार्मिक होने का मतलब है मन की उद्विग्नता या आकुलता समाप्त हो, मन से घृणा, विद्वेष और तृष्णा की आग शान्त हो। इसीलिये गीता कहती है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग-भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। गीता २/५६।

जिसका मन दुःखों की प्राप्ति में भी दुःखी नहीं होता और सुख की प्राप्ति में जिसकी लालसा तीव्र नहीं होती है, जिसके मन में ममता, भय और क्रोध समाप्त हो चुके हैं वही व्यक्ति धार्मिक है, स्थिर बुद्धि है, मुनि है। वस्तुतः चेतना जितनी निराकुल बनेगी उतना ही जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में धर्म का प्रकटन होगा। क्योंकि यह निराकुलता या समता ही हमारा निज-धर्म है, स्व-स्वभाव है। आकुलता का मतलब है आत्मा की 'पर' (पदार्थों) में उन्मुखता और निराकुलता का मतलब है 'पर' से विमुख होकर स्व में स्थिति। इसीलिए जैन परम्परा में पर-परिणति को अधर्म और आत्म-परिणति को धर्म कहा गया है।

चेतना और मन की निराकुलता हमारा निज-धर्म या स्व-स्वभाव इसीलिए है कि यह हमारी स्वाभाविक माँग है, स्वाश्रित है अर्थात् अन्य किसी पर निर्भर नहीं है। आपकी चाह, आपकी चिन्ता, आपके मन की आकुलता सदैव ही अन्य पर आधारित है, पराश्रित है, ये पर वस्तु के संयोग से उत्पन्न होती है और उन्हीं के आधार पर बढ़ती है एवं जीवित रहती है। समता (निराकुलता) स्वाश्रित है इसीलिए स्वधर्म है, जबकि ममता और तज्जनित आकुलता पराश्रित है, इसीलिए विधर्म है, अधर्म है। जो स्वाश्रित या स्वाधीन है वही आनन्द को प्राप्त कर सकता है, जो पराश्रित या पराधीन है उसे आनन्द और शान्ति कहाँ? यहाँ हमें यह समझ लेना चाहिये कि पदार्थों के प्रति ममत्वभाव और उनके उपभोग में अन्तर है। धर्म उनके उपभोग का विरोध नहीं करता है अपितु उनके प्रति ममत्वं-बुद्धि या ममता के भाव का विरोध करता है। जो पराया है उसे अपना समझ लेना, मान लेना अधर्म है, पाप है, क्योंकि इसी से मानसिक शांति और चेतना का समत्व भंग होता है, आकुलता और तनाव उत्पन्न होते हैं। इसे भी शास्त्रों में अनात्म में आत्म-बुद्धि या परपरिणति कहा गया है। जिस प्रकार संसार में वह प्रेमी दु:खी होता है जो किसी ऐसी स्त्री से प्रेम कर बैठता है जो उसकी अपनी होकर रहने वाली नहीं है, उसी प्रकार उन पदार्थों के प्रति जिनका वियोग अनिवार्य है, ममता रखना ही दु:ख का कारण है और जो दु:ख का कारण है वही अधर्म है, पाप है। आदरणीय गोयनकाजी ने बहुत ही सुन्दर बात कही है—

सुख-दु:ख दोनों एक से, मान और अपमान ।
चित्त विचलित होये नहीं, तो सच्चा कल्याण ।।
जीवन में आते रहें, पतझड़ और बसन्त ।
मन की समता न छूटे, तो सुख-शान्ति अनन्त ।।
विषम जगत में चित्त की, समता रहे अटूट ।
तो उत्तम मंगल जगे, होय दु:खों में छूट ।।

समता स्वभाव है और ममता विभाव है। ममता छूटेगी तो समता अपने आप आ जायेगी। स्वभाव बाहरी नहीं है, अत: उसे लाना भी नहीं है, मात्र विभाव को छोड़ना है। रोग या बिमारी हटेगी तो स्वस्थता तो आयेगी ही। इसलिए प्रयत्न बिमारी को हटाने के लिए करना है। जिस प्रकार बिमारी बनी रहे और आप पुष्टिकारक पथ्य लेते रहे तो वह लाभकारी नहीं होता है, उसी प्रकार जब तक मोह और ममता बनी रहेगी, समता जीवन में प्रकट नहीं होगी। जब मोह और ममता के बादल छटेंगे तो समता का सूर्य स्वत: ही प्रकट हो जायेगा। जब मोह और ममता की चट्टानें टूटेंगी तो समता के शीतल जल का झरना स्वत: ही प्रकट होगा। जिसमें स्नान करके युग-युग का ताप शीतल हो जायेगा।

मानव धर्म

धर्म क्या है? इस प्रश्न पर अभी तक हमने इस दृष्टिकोण से विचार किया था कि एक चेतन सत्ता के रूप में हमारा धर्म क्या है? अब हम इस दृष्टि से विचार करेंगे कि मनुष्य के रूप में हमारा धर्म क्या है? दूसरे प्राणियों से मनुष्य को जिन मनोवैज्ञानिक आधारों से अलग कर सकते हैं, वे हैं— आत्मचेतनता, विवेकशीलता और आत्मसंयम। मनुष्य के अलावा दूसरे प्राणियों में इन गुणों का अभाव देखा जाता है। मनुष्य न केवल चेतन है, अपितु आत्मचेतन है। उसकी विशेषता यह है कि उसे अपने ज्ञान की, अपनी अनुभूति की अथवा अपने भावावेशों की भी चेतना होती है। मनुष्य जब क्रोध या काम की भाव-दशा में होता है तब भी वह यह जानता है कि मुझे क्रोध हो रहा है या काम सता रहा है। पशु को क्रोध होता है किन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं क्रोध में हूँ। उसका व्यवहार काम से प्रेरित होता है किन्तु वह यह नहीं जानता है कि काम मेरे व्यवहार को प्रेरित कर रहा है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से पशु का व्यवहार मात्र मूलप्रवृत्यात्मक (Instinctive) है; जो अंध-प्रेरणा मात्र है, किन्तु मनुष्य का जीवन प्रेरणा से चालित न होकर विचार या विवेक से प्रेरित होता है। उसमें आत्मचेतनता है।

मनुष्य और पशु में सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर आत्मचेतनता के सम्बन्ध में है। जहाँ भी व्यवहार और आचरण मात्र मूल-प्रवृत्ति या अन्ध प्रेरणा से चालित होता है वहाँ मनुष्यत्व नहीं, पशुत्व ही प्रधान होता है, ऐसा मानना चाहिये। मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि अपने व्यवहार और आचरण के प्रति उसमें आत्मचेतनता या सजगता हो। यही सजगता उसे पशुत्व से पृथक् करती है। मनुष्य की ही यह विशेषता है कि वह अपने विचारों, अपनी भावनाओं और अपने व्यवहार का द्रष्टा या साक्षी है। उसमें ही यह क्षमता है कि कर्ता और द्रष्टा दोनों की भूमिकाओं में अपने को रख सकता है। वह अभिनेता और दर्शक दोनों ही है। उसका हित इसी में है कि वह अभिनय करके भी अपने दर्शक होने की भूमिका को नहीं भूले। यदि उसमें यह आत्मचेतनता अथवा द्रष्टा-भाव या साक्षी-भाव नहीं रहता है तो हम यह कह सकते हैं कि उसमें मनुष्यता की अपेक्षा पशुता ही अधिक है। मनुष्य में परमात्मा और पशु दोनों ही उपस्थित हैं। वह जितना आत्मचेतन या अपने प्रति सजग बनता है, उसमें उतना ही परमात्मा का प्रकटन होता है और जितना असावधान रहता है, भावना और वासनाओं के अन्ध प्रवाह में बहता है, उतना ही पशुता के निकट होता है। जो हमें परमात्मा के निकट ले जाता है वही धर्म है और जो पशुता के निकट ले जाता है वही अधर्म है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि एक मनुष्य के रूप में आत्मचेतनता मनुष्य का वास्तविक धर्म है। इसी आत्मचेतनता को ही शास्त्रों में अप्रमाद कहा गया है। मनुष्य जिस सीमा तक आत्मचेतन है, अपने ही विचारों, भावनाओं और व्यवहारों का दर्शक है उसी सीमा तक वह मनुष्य है, धार्मिक है, क्योंकि वह आत्मचेतन होना या आत्मद्रष्टा होना ऐसा आधार है जिससे मानवीय विवेक और सदाचरण का विकास सम्भव है। बीमारी से छुटकारा पाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिये पहले उसी बीमारी के रूप में देखना और जानना जरुरी है। यही आत्मचेतनता अथवा साक्षी-भाव या द्रष्टा-भाव ही एक ऐसा तत्त्व है जिस पर धर्म की आधारशिला खड़ी हुई है। जैन आगमों में अप्रमाद को धर्म (अकर्म) और प्रमाद को अधर्म (कर्म) कहा गया है। प्रमाद का सीधा और साफ अर्थ है आत्मचेतनता या आत्मजागृति का अभाव। अप्रमत्त वही है जो मनोभावों और प्रवृत्तियों का द्रष्टा है। मनुष्य की मनुष्यता और धार्मिकता इसी बात में है कि वह सदैव अपने आचार और विचार के प्रति सजग रहे। प्रत्येक क्रिया के प्रति हमारी चेतना सजग होनी चाहिये। खाते समय खाने की चेतना और चलते समय चलने की चेतना, क्रोध में क्रोध की चेतना और काम में काम की चेतना बनी रहना आवश्यक है। आप जो भी कर रहे हैं उसके प्रति यदि आप पूरी तरह से आत्मचेतन हैं तो ही आप सही अर्थ में धार्मिक हैं। जिसे हम सम्यक्-दर्शन कहते हैं मेरी धारणा में उसका अर्थ यही आत्मदर्शन या आत्मजागृति अथवा द्रष्टा एवं साक्षी-भाव की स्थिति है। आत्मचेतन या अप्रमत्त या आत्मद्रष्टा होने का मतलब है खुद के अन्दर झांकना; अपनी वृत्तियों, अपने विचारों एवं अपनी भावनाओं को देखना। सरल शब्दों में कहें तो जो अपने मन के नाटक को देखता है वही आत्मद्रष्टा या आत्मचेतन है। जो अपने कर्मों के प्रति, अपने विचारों के प्रति साक्षी या द्रष्टा नहीं बन सकता वह धार्मिक भी नहीं बन सकता है। भगवान् बुद्ध ने इसी आत्मचेतनता को स्मृति के रूप में पारिभाषित किया है। सम्यक्-स्मृति बौद्ध धर्म के साधनामार्ग का एक महत्त्वपूर्ण चरण है। भगवान् बुद्ध ने साधकों को बार-बार यह निर्देश दिया है कि अपनी स्मृति को सदैव जागृत बनाये रखो। धम्मपद में वे कहते हैं— अपमादो अमत पदं पमादो मच्चुनो पदं' अर्थात् अप्रमाद ही अमृत पद है, अमरता का मार्ग है और प्रमाद मृत्यु का। स्मृतिवान होना, सजग, अप्रमत्त होना यह धर्म और धार्मिकता की आवश्यक कसौटी है। आचाराङ्ग में भगवान् महावीर ने एक बहुत ही सुन्दर बात कही है— 'सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरन्ति' अर्थात् जो सोया हुआ है, सजग या आत्मचेतन नहीं है वह अमुनि है और जो सजग है, जागृत है, आत्मचेतन है वह मुनि है। मनुष्य की यह विशेषता है कि वह अपने प्रति सजग या आत्मचेतन रह सकता है, अपने अन्दर झाँक सकता है, चेतना में स्थित विषय वासना रूपी गन्दगी को देख सकता है। आत्मद्रष्टा या आत्मचेतन होने का मतलब यही है कि हम अपने में निहित या उत्पन्न होने वाली वासनाओं, भावावेशों, विषय-विकारों, राग-द्वेष की वृत्तियों एवं क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों के प्रति सजग रहें, सावधान रहें, उन्हें देखते रहें। समकालीन मानवतावादी विचारकों में वारनर फिटे ऐसे विचारक हैं, जो यह मानते हैं कि आत्मचेतनता (Selfawareness)ही एक ऐसी स्थिति है जिसे किसी कर्म की नैतिकता और अनैतिकता की कसौटी माना जा सकता है। यद्यपि यहाँ कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि क्या आत्मचेतना के साथ या पूरी सजगता के साथ किया जाने वाला हिंसादि कर्म धार्मिक या नैतिक होगा? वस्तुत: इस सम्बन्ध में हमें एक भ्रांति को दूर कर लेना चाहिए। व्यक्ति जितना आत्म-चेतन बनता है, अपने प्रति सजग बनता है, वह भावावेशों से ऊपर उठता जाता है। पूर्ण आत्मचेतना की स्थिति में आवेश या आवेग नहीं रह पायेंगे, और आवेश के अभाव में हिंसा सम्भव नहीं है। अत: आत्मचेतनता के साथ हिंसा का कर्म सम्भव ही नहीं होगा। अनुभव और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही इस बात का समर्थन करते हैं कि दुष्कर्म जितना बड़ा होगा, उसे करते समय व्यक्ति उतने ही भावावेश में होगा। हत्याएँ, बलात्कार आदि सभी दुष्कर्म भावावेशों में ही सम्भव होते हैं। वासना का आवेग जितना तीव्र है, आत्मचेतना उतनी ही धूमिल होती है, कुण्ठित होती है और उसी स्थिति में पाप का या बुराइयों का उद्भव होता है। रागाभाव, ममत्व, आसक्ति, तृष्णा आदि को इसीलिए पाप और अधर्म के मूल माने गये हैं, क्योंकि ये आवेगों को उत्पन्न कर हमारी सजगता को कम करते हैं। जब भी व्यक्ति काम में होता है, क्रोध में होता है लोभ में होता है अपने आप को भूल जाता है, उसके आवेग इतने तीव्र बनते जाते हैं कि वह आत्मविस्तृत होता जाता है, अपना आपा खो बैठता है, अत: वे सब बातें जो आत्म-विस्मृति लाती हैं पाप मानी गई हैं, अधर्म मानी गयी हैं। वस्तुत: धर्म और अधर्म की एक कसौटी यह है कि जहाँ आत्म-विस्मृति है वहाँ अधर्म है और जहाँ आत्म-स्मृति है, आत्म चेतना है, सजगता है, वहाँ धर्म है।

दूसरी बात, जिस आधार पर हम मनुष्य और पशु में कोई अन्तर कर सकते हैं और जिसे मानव की विशेषता या स्वभाव कहा जा सकता है वह है, विवेकशीलता। अक्सर मनुष्य की परिभाषा हम एक बौद्धिक प्राणी के रूप में करते हैं और मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है तो यह विवेक या ज्ञान का तत्त्व ही एक ऐसा तत्त्व है जो इसे पशु से पृथक् कर सकता है। कहा भी गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतद् पशुभि: नाराणाम्।
ज्ञानो ही तेषां अधिको विशेषो, ज्ञानेन हीना नर: पशुभि: समाना।।

हम से यह पूछा जा सकता है कि यह विवेकशीलता क्या है? वस्तुत: यदि हम सरल भाषा में कहें तो किसी भी क्रिया के करने के पूर्व उसके सम्भावित अच्छे और बुरे परिणामों पर विचार कर लेना ही विवेक है। हम जो कुछ करने जा रहे हैं या कर रहे हैं उसका परिणाम हमारे लिये या समाज के लिए हितकर है या अहितकर इस बात का विचार कर लेना ही विवेक है। यदि आप अपने प्रत्येक आचरण को सम्पादित करने के पहले उसके परिणामों पर पूरी सावधानी के साथ विचार करते हैं तो आप विवेकशील माने जा सकते हैं। जिसमें अपने हिताहित या दूसरों के हिताहित को समझने की शक्ति है वही विवेकशील या धार्मिक हो सकता है। जो व्यक्ति अपने और दूसरों के हिताहितों पर पूर्व में विचार नहीं करता है वह कभी भी धार्मिक नहीं कहला सकता। यह बात बहुत स्पष्ट है कि जो व्यक्ति अपने प्रत्येक आचरण को करने के पहले तौलेगा, उसके हिताहित का विचार करेगा वह कभी भी दुराचरण, अधर्म और अनैतिकता की ओर अग्रसर नहीं हो सकेगा। इसलिए हम कह सकते हैं कि विवेकशील होना मनुष्य का एक महत्त्वपूर्ण गुण है और जिस सीमा तक उसमें इस गुण का विकास हुआ है उसी सीमा तक उसमें धार्मिकता है। वस्तुत: जहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन में विवेकशीलता होगी वहाँ धर्म के नाम पर पनपने वाले छलछद्म अंधश्रद्धा तथा ढोंग और आडम्बर अपने आप ही समाप्त हो जायेंगे। यदि हमें धार्मिक होना है तो हमें सबसे पहले विवेकी बनना होगा। जो व्यक्ति सजग नहीं है, जो अपने आचरण और व्यवहार के हिताहित का विचार नहीं करता है वह कदापि धार्मिक नहीं कहा जा सकता। जहाँ भी व्यक्ति में सजगता और विचारशीलता का अभाव है वहीं अधर्म की सम्भावनाएँ है। यदि हम आत्मचेतनता को सम्यक्-दर्शन कहें तो विवेकशीलता को सम्यक्-ज्ञान कहा जा सकता है। जब हमारे आचरण के साथ आत्मचेतनता और विवेकशीलता जुड़ेगी तभी हमारा आचरण धार्मिक बनेगा।

विवेक एक ऐसा तत्त्व है जो प्रत्येक आचार और व्यवहार का देश, काल और परिस्थिति के सन्दर्भ में सम्यक् मूल्याङ्कन करता है। विवेक व्यक्ति के मूल्याङ्कन की क्षमता का परिचायक है। विवेक एक ऐसी क्षमता है जो सम्पूर्ण परिस्थिति को दृष्टि में रखकर आचरण के परिणामों का निष्पक्ष मूल्याङ्कन करती है। जीवन में जब विवेक का विकास होता है, तो दूसरों के दु:ख और पीड़ा का आत्मवत् दृष्टि से मूल्याङ्कन होता है स्वार्थवृत्ति क्षीण होने लगती है, समता का विकास होता है और जीवन में धर्म का प्रकटन होता है। इस प्रकार विवेक धर्म और धार्मिकता का आवश्यक लक्षण है। धर्म और धार्मिकता का विकास विवेक की भूमि पर ही सम्भव है, अत: विवेक धर्म है।

आप धार्मिक हैं या नहीं? इसकी सीधी और साफ पहचान यही है कि आप किसी क्रिया को करने के पूर्व उसके परिणामों पर सम्यक् रूप से विचार करते हैं। क्या आप अपने हितों और दूसरों के हितों का समान रूप से मूल्याङ्कन करते हैं? यदि इन प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक है तो निश्चय ही आप धार्मिक हैं। विवेक के आलोक में विकसित आत्मवत्-दृष्टि ही धर्म और धार्मिकता का आधार है।

मनुष्य और पशु में तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर इस बात को लेकर है कि मनुष्य में संयम की शक्ति है, वह अपने आचार और व्यवहार को नियन्त्रित कर सकता है। यदि हम पशु का जीवन देखें तो हमें लगेगा कि वे एक प्राकृतिक जीवन जीते हैं। पशु तभी खाता है जब भूखा होता है। पशु के लिए यह सम्भव नहीं है कि भूखा होने पर खाद्य-सामग्री की उपस्थिति में वह उसे न खाये। किन्तु मनुष्य के आचरण की एक विशेषता है, वह भूखा होते हुए भी और खाद्य-सामग्री के उपलब्ध होते हुए भी भोजन करने से इन्कार कर देगा, दूसरी ओर मनुष्य के लिए यह भी सम्भव है कि भरपेट भोजन के बाद भी वह सुस्वादु पदार्थ उपलब्ध होने पर उन्हें खा लेता है। इस प्रकार मनुष्य में एक ओर आत्मसंयम की सम्भावनाएँ हैं तो दूसरी ओर वासनाओं से प्रेरित हो कर वह एक अप्राकृतिक जीवन भी जी सकता है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि यदि कोई मनुष्य की विशेषता हो सकती है तो वह उसमें निहित आत्म-नियन्त्रण या संयम का सामर्थ्य है। इसीलिये कहा गया है कि मनुष्य में जैविक आवेग तो बहुत हैं, आवश्यकता इस बात की है कि उसके आवेगों को कैसे नियन्त्रित किया जाय? जैविक आवेगों के अनियन्त्रण का जीवन अधर्म का जीवन है। मनुष्य का धर्म और धार्मिकता इसी में है कि वह आत्मचेतन होकर विवेकशीलता के साथ अपनी वासनाओं को संयमित करे। यदि वह इतना कर पाता है तो ही उसे हम धार्मिक कह सकते हैं। मनुष्य के धार्मिक होने का मतलब है उसकी चेतना सजग रहे और उसका विवेक वासनाओं को नियन्त्रित करता रहे।

मनुष्य का सामाजिक धर्म

धर्म को जब हम वस्तु स्वभाव के रूप में ग्रहण करते हैं तो हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि एक मनुष्य के रूप में हमारा धर्म क्या है? मनुष्य का मूल स्वभाव मनुष्यता ही हो सकता है, लेकिन प्रश्न है कि मनुष्यता से हमारा क्या तात्पर्य है? वह कौन सा तत्त्व है जो मनुष्य को पशु से भिन्न करता है। इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए हमने देखा था कि आत्मचेतना (Self Awareness), विवेक और संयम ये तीन ऐसे तत्त्व हैं जो मनुष्य को अपनी उपस्थिति के कारण पशु से ऊपर उठा देते हैं।

इन सबके साथ ही एक और विशिष्ट गुण मनुष्य का है जो उसे महनीयता प्रदान करता है, वह है उसकी सामाजिक चेतना। पाश्चात्य विचारकों ने मनुष्य की परिभाषा एक सामाजिक प्राणी के रूप में की है। सामाजिकता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है (Man is a social animal) वैसे तो सामूहिक जीवन पशुओं में भी पाया जाता है, किन्तु मनुष्य की यह सामूहिक जीवन-शैली उनसे कुछ भिन्न है। पशुओं में पारस्परिक सम्बन्ध तो होते हैं किन्तु उन्हें उन सम्बन्धों की चेतना नहीं होती है। मनुष्य जीवन की विशेषता यह है कि उसे उन पारस्परिक सम्बन्धों की चेतना होती है और उसी चेतना के कारण उसमें एक-दूसरे के प्रति दायित्व-बोध और कर्तव्य-बोध होता है। पशुओं में भी पारस्परिक हित साधन की प्रवृत्ति तो होती है, किन्तु वह एक अन्ध मूलप्रवृत्ति है। उस अन्ध-प्रवृत्ति के अनुसार ही आचरण करने में पशु विवश होता है। उसके सामने यह विकल्प नहीं होता है कि वह वैसा आचरण करे या नहीं करे। किन्तु इस सम्बन्ध में मानवीय-चेतना स्वतन्त्र होती है। उसमें अपने दायित्व-बोध की चेतना होती है। किसी उर्दू शायर ने कहा भी है—

वह आदमी ही क्या है, जो दर्द आशना न हो !
पत्थर से कम है, दिल शरर गर निहा नहीं !

जैनाचार्य उमास्वाति ने भी न केवल मनुष्य का, अपितु समस्त जीवन का लक्षण पारस्परिक हित साधन को माना है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है— ''परस्परोपग्रहोजीवानाम्।'' एक दूसरे के कल्याण में सहयोगी बनना यही जीवन की विशिष्टता है। इसी अर्थ में हम कह सकते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और दूसरे मनुष्यों एवं प्राणियों का हित साधन उसका धर्म है। धार्मिक होने का एक अर्थ यह है कि हम एक-दूसरे के सहयोगी बनें। दूसरे के दुःख और पीड़ा को अपनी पीड़ा समझें तथा उसके निराकरण का प्रयत्न करें। जैन आगम आचाराङ्गसूत्र में धर्म की परिभाषा करते हुए बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"सवे सत्ता ण हंतव्वा,
एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए"

"अर्थात् भूतकाल में जो अर्हत् हुए हैं, वर्तमानकाल में जो अर्हत् हैं और भविष्यकाल में जो अर्हत होंगे, वे सभी एक ही सन्देश देते हैं कि किसी प्राणी की, किसी सत्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उसका घात नहीं करना चाहिए, उसे पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए, यही एकमात्र शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।" इस धर्म की लोक-कल्याणकारी चेतना का प्रस्फुटन लोक की पीड़ा के निवारण के लिए ही हुआ है और यही धर्म का सारतत्त्व है। कहा है—

यही है इबादत, यही है दीनो इमाँ।'
कि काम आये दुनिया में, इंसां के इंसां।

दूसरों की पीड़ा को समझकर उसके निवारण का प्रयत्न करना, यही धर्म की मूल आत्मा हो सकती है। सन्त तुलसीदास जी ने भी कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीड़ा सम नहीं अधमाई।

अहिंसा की चेतना का विकास तभी सम्भव है, जब मनुष्य में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना का विकास होगा। जब हम दूसरों के दर्द को अपना दर्द समझेंगे तभी हम लोकमङ्गल की दिशा में अथवा परपीड़ा के निवारण की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे। परपीड़ा की यह आत्मानुभूति भी वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ होनी चाहिए। हम दूसरों की पीड़ा के मूक दर्शक न रहें। ऐसा धर्म और ऐसी अहिंसा, जो दूसरों की पीड़ा की मूक दर्शन बनी रहती है, वस्तुतः वह न धर्म है और न अहिंसा। अहिंसा केवल दूसरों को पीड़ा न देने तक सीमित नहीं है, उसमें लोकमङ्गल और लोककल्याण का अजस्र-स्रोत भी प्रवाहित है। जब लोक-पीड़ा अपनी पीड़ा बन जाती है, तभी धार्मिकता का स्रोत अन्दर से प्रवाहित होता है। तीर्थङ्करों, अर्हतों और बुद्धों ने जब लोक-पीड़ा की यह अनुभूति आत्मनिष्ठ रूप में की, तो वे लोककल्याण के लिए सक्रिय बन गये। जब दूसरों की पीड़ा और वेदना हमें अपनी लगती है तब लोककल्याण भी दूसरों के लिए न होकर अपने ही लिए हो जाता है। उर्दू शायर अमीर ने कहा है—

खञ्जर चले किसी पे, तड़फते हैं हम मीर ।
सारे जहाँ का दर्द, हमारे ज़िगर में है ।।

जब सारे जहाँ का दर्द किसी के हृदय में समा जाता है तो वह लोककल्याण के मङ्गलमयमार्ग पर चल पड़ता है। उसका यह चलना बाहरी नहीं होता है। उसके सारे व्यवहार में अन्तश्चेतना काम करती है और यही अन्तश्चेतना धार्मिकता का मूल उत्स (Essence) है, इसे ही दायित्व-बोध की सामाजिक चेतना कहा जाता है। जब यह दायित्व-बोध की सामाजिक चेतना जाग्रत होती है, तो मनुष्य में धार्मिकता प्रकट होती है। दूसरों के प्रति आत्मीयता के भाव का जाग्रत होना ही धार्मिक बनने का सबसे पहला उपक्रम है।

यहि हमारे जीवन में दूसरों की पीड़ा, दूसरों का दर्द अपना नहीं बना है तो हमें यह निश्चित ही समझ लेना चाहिए कि हममें धर्म का अवतरण नहीं हुआ है। दूसरों की पीड़ा की आत्मनिष्ठ अनुभूति से जागृत दायित्व-बोध की अन्तश्चेतना के बिना सारे धार्मिक क्रिया-काण्ड, पाखण्ड या ढोंग हैं। उनका धार्मिकता से दूर का रिश्ता नहीं है। जैन धर्म के सम्यक्-दर्शन, जो कि धार्मिकता की आधारभूमि है— के जो पाँच अङ्ग माने गये हैं, उनमें समभाव और अनुकम्पा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सामाजिक दृष्टि से समभाव का अर्थ है— दूसरों को अपने समान समझना। क्योंकि अहिंसा एवं लोककल्याण की अन्तश्चेतना का उद्‌भव इसी आधार पर होता है। आचाराङ्गसूत्र में क़हा गया है कि "जिस प्रकार मैं जीना चाहता हूँ, मरना नहीं चाहता हूँ उसी प्रकार संसार के सभी प्राणी जीवन के इच्छुक हैं और मृत्यु से भयभीत हैं, जिस प्रकार मैं सुख की प्राप्ति चाहता हूँ और दुःख से बचना चाहता हूँ उसी प्रकार विश्व के सभी प्राणी सुख के इच्छुक हैं और दुःख से दूर रहना चाहते हैं।" यही वह दृष्टि है जिस पर अहिंसा का, धर्म का और नैतिकता का विकास होता है।

जब तक दूसरों के प्रति हमारे मन में समभाव अर्थात् समानता का भाव, जागृत नहीं होता, अनुकम्पा नहीं आती अर्थात् उनकी पीड़ा हमारी पीड़ा नहीं बनती तब तक सम्यक्-दर्शन का उदय भी नहीं होता, जीवन में धर्म का अवतरण नहीं होता। असर लखनवी का यह निम्न शेर इस सम्बन्ध में कितना मौजूँ है —

ईमां गलत उसूल गलत, उद्दुआ गलत।
इंसां की दिलदिही, अगर इंसां न कर सके।।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org